ज़िन्दगी का सिस्टम

लेखक : आयतुल्लाहिल उज़मा सय्यदुल उलमा मौलाना सै0 अली नक़ी नक़वी

क़िस्त : 15

सम्पादन : नूरे हिदायत फ़ाउण्डेशन

क़िब्ला

ये नमाज़ की तीसरी शर्त है, क़िब्ला का मतलब है वह चीज़ जिसकी तरफ़ इन्सान अपना मुंह करे। इस्लाम ने नमाज़ के लिए अपनों में एकरंगी और एकता लाने के लिए ये हुक्म दे दिया कि नमाज़ में एक ख़ास ओर मुंह करके खड़े हों और वह पवित्र काबा की दिशा है। हिज़रत (रसूल को मक्के जा बसने) के बाद शुरू–शुरू में यह हुक्म हुआ था कि 'बैतुलमुक़द्दस' (यूरोशिलेम काबा' से पहले मुसलमानों का क़िब्ला था जिधर मुंह करके मुसल्मान पहले नमाज़ पढ़ते थे) को क़िब्ला बनाया जाए मगर उसके बाद क़ानून बदला और हमेशा के लिए 'काबा' को क़िब्ला बना दिया गया। ग़ैर मुस्लिम यह एतराज़ करते हैं कि इस्लाम मूर्ति पूजा के खिलाफ़ है और तौहीद (एकेश्वरवाद) की दावत देता है मगर काबा की तरफ़ मुंह करके नमाज़ पढ़ने में उसी तरह शिर्क (अल्लाह में किसी और को साझी करना) की बू आती है जिस तरह मूर्ति को सामने रखकर पूजा करने को शिर्क कहा जाता है। बिल्कुल इसी तरह का एतराज़ सजदे के बारे में ग़ैर शिया मुसलमानों की तरफ़ से शियों पर किया जाता है कि यह लोग ख़ाके शिफ़ा की सजदागाह सामने रखकर नमाज़ पढ़ते हैं यह वैसा ही है जैसे मूर्ति को सामने रखकर मुन्दिक लोग (शिर्क करने वाले) पूजा करते थे। जबकि सजदे का बयान इसके बाद होगा लेकिन एतराज़ और जवाब एक जैसे होने की वजह से यहीं इसे भी साफ़ कर दूँगा कि फिर इसके बाद मुझे फिर इस पर चर्चा करने की ज़रूरत न पड़े। अब देखना यह है कि शिर्क कहते किसे हैं ? शिर्क यह है कि , किसी ऐसी ख़सियत विशेषता या ऐसे काम को जो ख़ास खुदा का हो यानि वह बातें जो सिर्फ़ ख़ुदा में पाई जाती हों उन्हें ख़ुदा के अलावा किसी और से जोड़ दिया जाए या। पहली चीज़ यानि किसी ख़ासियत विशेषता को जो ख़ास ख़ुदा की हो उसे और के लिए साबित करना इसे *शिर्क–फ़िल–ए'तिक़ाद'* (विश्वास में खुदा का साझी होना) कहते हैं जैसे सिरजनहार, पालनहार आदि इन विशेषताओं का ख़ुदा के अलावा किसी और के लिए मानना और दूसरी स्थिति यानि जो काम ख़ास ख़ुदा का है उसे किसी और के लिए। यह *'शिर्क–फ़िल–इबादत'* है। अब देखिए कि जिन चीज़ों को शिर्क कहा जा रहा है क्या वह ख़ुदा के लिए साबित हो भी सकती हैं? क़िबला क्या है ? वह चीज़ जो नमाज़ पढ़ते वक़्त इंसान के सामने हो, ज़ाहिर है कि नमाज़ के वक़्त इंसान के सामने कोई माददी/भौतिक (Physical) चीज़ ही होगी चाहे दीवार हो या दरवाज़ा, पेड़ हो या पहाड़ हो। किसी तरफ़ मुंह करना तो ज़रूरी होगा चाहे वह पूरब हो या पश्चिम, उत्तर हो या दक्खिन, ख़ुदा शरीर व शारीरिकता तो रखता नहीं है वह इन चीज़ों से पाक है अलग है और किसी एक दिशा में तो है नहीं, इसलिए चेहरे के सामने हो ही नहीं सकता। मतलब ये है कि ख़ुदा शारीरिक रूप से इन्सान का क़िब्ला नहीं बन सकता और ये ख़ासियत उसके लिए साबित ही नहीं, इसलिए क़िब्ला तो बहरहाल ख़ुदा नही होगा, चाहे वह कोई निश्चित चीज़ हो या ग़ैर अनिश्चित। फिर किसी एक निश्चित चीज़ को क़िब्ला बनाने से शिर्क कैसे हो सकता है। इसी तरह माथे के नीचे सजदे में बहरहाल कोई न कोई चीज़ (Physical thing) तो होगी, वह चाहे मिट्टी हो या पत्थर, लकड़ी हो या कपड़ा या फिर कोई और चीज़, ख़ुदा तो किसी के माथे के नीचे हो नहीं सकता फिर किसी ख़ास चीज़ को सजदे की जगह बना लेने से

शिर्क का क्या लगाव हो सकता है सच में शिर्क तो यूं होगा कि हम भक्ति पूजा को खुदा के हुक्म ओर उसके कहने पर चलने से न करे और किसी और की बड़ाई से असर लेकर हम सर झुका दें। यह शिर्क होगा मगर यह सामने की बात है कि मुसलमान जो काबे को सजदा करते हैं वे काबे की बड़ाई के असर से उसके सामने सर नहीं झुकाते हैं बल्कि सिर्फ़ इसलिए कि ये खुदा का हुक्म है कि वह काबा के सामने मुंह करके भक्ति इबादत करें और इसीलिए जब तक खुदा का हुक्म बैतुल मुक़द्दस की तरफ़ मुंह करने का था तब तक उधर मुंह करते थे और जब काबा की तरफ़ हुक्म हो गया तो उधर मुड़ने लगे, शायद क़िब्ले को बदलने के पीछे यह बात हो, कुर्आन मजीद की आयत में इसकी तरफ़ इशारा हैः–

''बेसमझ लोग कहते हैं कि ये उस क़िब्ले (बैतुल मुकद्दस) से ''जिधर नमाज़ पढ़ते थे (उससे) क्यों फिर गये, कहो कि पूरब और पश्चिम दोनों खुदा के हैं, वह जिसे चाहता है सीधे सही रास्ते की ओर मार्गदर्शन करता है'' मतलब ये है कि हमारी आंखों में न पूरब का कोई महत्व है न पश्चिम का, हम तो बस खुदा के हुक्म के पाबन्द कृतबद्ध हैं। जिधर वह मुड़ने को कह देता है मुड़ जाते हैं। इसलिए नमाज़ काबा की तरफ़ सिर्फ़ मुंह करके पढ़ी जाती है मगर वह हरगिज़ काबा की इबादत भक्ति नहीं है, इबादत तो सिर्फ़ उस खुदा ही की है जिसकी आज्ञापालन और भक्ति इस काम में (यानि काबा के सामने की तरफ़ रुख़ करके नमाज़ पढ़ते वक़्त) निगाह के सामने होती है।

मूर्तियों को सामने रखने वाले हरगिज़ ये दावा नहीं करते कि उन्हें खुदा ने कोई हुक्म दिया है कि वह इन मूर्तियों को अपने सामने रखा करें, बल्कि वह अपनी पूजा को उन्हीं मूर्तियों की तरफ़ सम्बन्धित करते हैं और उन मूर्तियों को पूज्य और महिमा योग्य समझते हैं, जबकि पैग़म्बरों की ज़बानी उनको बराबर इस बात से मना किया जाता रहा है, फिर भी वह खुदा के इस हुक्म के मुक़ाबले में अपने दिल से बराबर मूर्तियों की पूजा करते रहे, इसलिए ये पूजा खुदा की इबादत के मुक़ाबले में पाई गई और 'शिर्क' कहलायी।

इसी तरह सजदा करते वक़्त माथे के नीचे भी कोई न कोई पिण्ड (Physical thing) ही होगी, तो अगर हमें किसी ख़ास चीज़ का कृतबद्ध बना दिया गया हो जो हमारे हिसाब से, रसूल स0 के मध्यम से खुदा का हुक्म है तो इससे इबादते खुदा के अलावा किसी और की भक्ति कब हो जाएगी, भक्ति तो उसी खुदा की होगी जिसके हुक्म से हम मिट्टी या पत्ते या लकड़ी पर सजदा करने लगे हैं। खुदा के आदेश के तहत किसी अन्य के भक्ति का लगाव अगर शिर्क होता तब तो शैतान सबसे बड़ा खुदा को एक मानने वाला कहा जाता क्यों कि उसका जुर्म तो यही था कि उसने खुदा के अन्य को सजदा करने का जो हुक्म हुआ था उस हुक्म पर चला नहीं। खुदा को वह लाखों सजदे कर चुका था मगर आदम (अ0) के सामने सर न झुकाने की वजह से उस पर प्रकोप नाज़िल हुआ और वह धिक्कारी हो गया क्यों कि यहां आदम (अ0) का सजदा खुदा के हुक्म की वजह से था इस लिए वह खुदा की भक्ति व इबादत बन गया था। वह सजदा तो आदम (अ0) की तरफ़ था लेकिन भक्ति उस खुदा की थी जिसके हुक्म से ये सजदा किया जा रहा था। अब ये सजदा शिर्क नहीं था, बल्कि सजदे से इन्कार करना कुफ्ऱ (नास्तिकता) हो गया।

फिर ये कैसे समझा जा सकता है कि वह लोग जो ख़ुदा के हुक्म से किसी चीज़ का सम्मान/महिमा करते हैं या उसके ऊपर सजदा करना ज़रूरी समझते हैं वह खुदा के अलावा किसी और की भक्ति कर रहे हैं।

अब देखना ये है कि क़िब्ले के लिए एक ख़ास दिशा को निश्चित कर देने की वजह क्या है? मैं इसकी तरफ़ इशारा कर चुका हूँ और अब विस्तार से बयान करता हूँ कि यह बात अलग–अलग लोगों के काम में एका (Unity) और एक रंगी, एक सा मन मान्सिकता और ख़्यालों में भी एकरूपता और एकता लाती है।

आज दुनिया मे कई देश इस बात की कोशिश कर रहे हैं कि वहां के लोगों के रहन–सहन ज़बान और कपड़ों में एकता (Unity) पैदा हो जाए। ये बड़ी नासमझी की बात है जो इस्लाम के बारे में कहा जाता है कि इस्लाम की न कोई ज़बान है न कोई पहनावा और न ही मेल–जोल की कोई ज़िन्दगी है। याद रखिए अगर सारे देश अपनी एकता को मज़बूत करने के लिए ज़बान व पहनावे और समाज की एकता (Unity) पर ज़ोर देते हैं और ये सही है तो इस्लाम

भी अगर अपने मानने वालों को इन बातों में किसी एक रूप, सूरत और हालत का ढाले तो कोई एतराज़ के लायक़ बात नहीं है क्यों कि इस्लाम का तो मक़सद ही यह था कि वह उन सारी नसली, जातीय, भौगोलिक (Geographtical) हदों से निकलकर भरपूर एका लाये जिस एके की जड़ों को मजबूत करने के लिए अ़मल और एकरंगी और एक रूपता की ज़रूरत थी और इसके लिए जिन्दगी की हर शाखा में चाहे वह इबादतें भक्ति हों और चाहे लेन–देन रहन सहन इस तरह के नियम और क़ानून के बन्धन, लागू किये गये जिसकी वजह से बेलगामी और बिखराव (Indiscipline) ख़त्म हो जाता है और सब एक रंग में रंग जाते हैं। यह बात बहुत बड़ी है और इस्लाम के बहुत से आदेश इस सूत्र/Formula पर ठीक उतरते हैं जिनपर मौके मौक़े रौशनी डाली जाएगी। क़िब्ले के लिए एक ख़ास दिशा का बन्धन इस सामूहिक मक़सद का एक बहुत बड़ा अंग है। देखिए तो अगर क़िब्ला मख़सूस (निश्चित) न होता तो एक वक़्त में कुछ आदमी नमाज़ पढ़ने वाले कोई किसी तरफ़ मुंह किए होता और कोई किसी तरफ़। क्या इसमें वह सामूहिक शान पैदा होती जो एक वक़्त में जमाअत की नमाज़ में हज़ारों लोगों के एक साथ पढ़ने से पैदा होती है। जमाअत की लाइन में खड़े होकर नमाज़ पढ़ने वाले के दिल पर जमाअत की शान व बड़ाई का उतना असर नहीं पड़ता जितना दूर से किसी ऊँचाई पर खड़े होकर किसी बड़े मजमे की जमाअत से नमाज़ को देखकर दिल पर एक असर पड़ता है। क़िब्ले के लिए किसी दिशा के निश्चित न होने से ये मक़सद कभी पूरा नहीं हो सकता था। अब अगर बहुत से आदमी एक वक़्त में अलग अलग (जमाअत से नहीं) भी नमाज़ पढ़ रहे हों तब भी उनके क़िब्ले का एक होना (यानि हर मुसलमान उसी क़िब्ले (काबा) की तरफ़ रुख़ करके नमाज़ पढ़ रहा है) उनकी एकता का ऐलान करता है। उनका एक ही ओर चेहरा करके इबादत करना इस बात को ज़ाहिर करता है कि वह किसी 'एक' क़ानून के तहत इबादत कर रहे हैं, और कोई 'एक' ताक़त है जो सब पर शासक है।

पहनावा

नमाज़ के लिए कपड़े में भी कुछ शर्ते हैं जैसे शुद्ध रेशम न हो, हराम गोश्त जानवर के जिस्म के किसी हिस्से से न बना हो, अब देखना ये है कि इन शर्तो का मक़सद क्या है ? क्या ख़ुदा की तरफ़ से अच्छे और क़ीमती लेबास पहनने की मनाही है और हमारा सँवरना उसे नापसन्द है और क्या उसे मन्जूर है कि हम सफ़ाई और अच्छे दिखने से दूर रहें।

ऐसा हरगिज़ नहीं है अपनी हैसियत के मुताबिक़ अच्छे से अच्छा कपड़ा पहनना हमारे लिए जाएज़ है बल्कि ख़ुदा की नेमत के दिखाने के लिए सराहनीय और अच्छा है। इन्सान को ख़ुदा ने दिया हो और फिर भी वह इसतरह फटे–हाल बना रहे कि लोग उसे बिगड़ेहाल और दुखी समझें, ये ख़ुदा की निगाह में अच्छा नहीं है और यह नेमत का झुटलाना भी है। इमाम जाफ़र सादिक़ (अ0) फ़रमाते हैं–''

ख़ुदावन्दे आ़लम ख़ूबसूरती और सँवरने को चाहता है और बिगड़ेहाल में और ख़राब दिखाने को नहीं पसन्द करता। दूसरी हदीस में आप (अ0) ने फ़रमाया–''

जब ख़ुदा ने बन्दे को नेमत अता की है तो वह चाहता है कि उस नेमत का असर बन्दे पर उजागर हो।''

रसूल (स0) ने एक आदमी को देखा जो उचाट, मैले कपड़े पहने हुए बहुत बुरे हाल में था हज़रत (स0) ने फ़रमाया''

''ख़ुदा की नेमतों से फ़ायदा उठाना, यह भी धर्म में है।'' दूसरी हदीस में हज़रत (स0) ने फ़रमाया''–

''बुरा है वह ख़ुदा का बन्दा जो मैला रहे।''

कपड़ा अगर हैसियत (Status) के मुताबिक़ क़ीमती पहना जाए तो इसराफ़ (मितव्ययिता) का कोई सवाल नहीं है, इमाम जाफ़र सादिक़ (अ0) फ़रमाते है–''

''तीन बातों में ख़ुदा बन्दे से हिसाब न करेगा– खाना, कपड़ा, और नेक बीबी।''

बेशक मासूम इमामों (अ0) ने इस ग़लत फ़हमी को दूर किया है, अहमद बिन मोहम्मद बिन अबी नस्र की रवायत (कहना) है कि इमाम रिज़ा (अ0) ने उनसे पूछाः

''अच्छे कपड़े के बारे में तुम्हारा क्या विचार है?'' (ये एक अंदाज़ है शिक्षा देने का) उन्होने कहा– ''मैं क्या अपना विचार ज़ाहिर करूँ मगर मैं ने सुना है

कि इमाम हसन (अ0) अच्छा कपड़ा पहनते थे और इमाम जाफ़र सादिक़ (अ0) नया कपड़ा खरीदते थे और उसे पानी में धुलवा कर साफ़ कराते थे।''

इमाम (अ0) ने फ़रमायाः

''हाँ, मज़े से अच्छे कपड़े पहनो और साज सज्जा करो': इमाम ज़ैनुल आबेदीन (अ0) पॉच सौ दिरहम की क़ीमत का रेशमी झुब्बा पहनते थे और पचास दीनार की क़ीमत की रेशमी चादर ओढ़ते थे, जाड़ा उसमें बिताते थे और जब जाड़े की ऋृतु चली जाती थी तो उसे बेच कर उसके पैसे को ख़ुदा के रास्ते में दे देते थे (पुण्य खैरात कर देते)। ''फिर हज़रत (अ0) ने इस आयत की तिलावत (पाठ) फ़रमाई–

''कहो किसने हराम किया है ख़ुदा की पैदा की हुई ज़ीनत/साज को जो उसने बन्दे के लिए रखी है और पाकीज़ा (यानि हलाल) चीज़ों को रिज़्क़ में से।''

बल्कि नमाज़ के मौक़े पर ख़ास तौर से ये हिदायत हुई है कि अच्छे कपड़े पहन कर मुसल्ले (नमाज़ की जगह) पर आओ।

कुर्आने मजीद में है'' ''खुज़ू ज़ी–न–तकुम हुक्द इन्–द मस्जिद''

इसका मतलब यही है कि इबादत के लिए सज संवर) के आओ। कपड़े को एक हद तक तो ज़रूरी और अनिवार्य रखा गया है, यहां तक कि अगर अकेले में भी जब कि कोई देखने वाला न हो अगर नगें बदन होकर नमाज़ पढ़े , तो नमाज़ बातिल (ग़लत) है। कुछ बातों में इस हद तक बल दिया गया है कि बग़ैर उसके नमाज़ मकरूह (ऐसा करम जो न हो तो अच्छा और अवाब है, हो जाय तो अज़ाब/दया नहीं) है, जैसे घुटनों से ऊँचा लिबास या मर्द के जिस्म के ऊपर के हिस्से का नंगा होना या सर नंगे होना।

नोटः–नमाज़ में 'औरत' के लिए सिर्फ़ चेहरे और हाथ के पंजों के अलावा पूरे जिस्म का छिपाना 'वाजिब' है।

इसके बाद, कुछ चीज़ें मुस्तहब (बाद्धनीय) हैं जैसे सर पर अमामा (पगड़ी) बांधना और कन्धों पर अबा (लम्बा खुला झुब्बा) ओढ़ना। लेकिन फिर भी कपड़े के मामले में आज़ाद नहीं रखा गया है। कुछ पाबन्दियाँ बन्धन लागू की गई हैं। इन पाबन्दियों का ये मक़सद नहीं है कि हमारे अच्छे कपड़े और सुन्दर दिखना पसन्द नहीं है बल्कि उसका मक़सद कुछ और है, मुम्किन है हम पूरी तरह से उन के पीछे दर्शन को न समझ सकें।

मगर एक कॉमन फ़ायदा जो इन सब बन्धनों में छिपा है वह ये है कि इन्सान को अपनी माद्दी (भौतिक) जरूरतों को पूरा करने में भी कर्तव्य का एहसास बना रहता है और ख़ुदा की याद बाक़ी रहती है। देखिए अगर ईद क़रीब है और आपको नए कपड़ों का शौक़ हुआ, जेब में रूपए लिए और कपड़े की दुकान पर पहुँचे, अच्छे कपड़े की मांग की, उसने बेहतरीन, खूबसूरत और क़ीमती कपड़े दिखाना शुरू किए आपने कपड़ों को देखना और पसन्द करना शुरू किया, ये सब कुछ माद्दी (भौतिक/Material) चाह के पूरा करने के लिए हो रहा है लेकिन उसी बीच एक ऐसा कपड़ा सामने आ गया जिसके बारे में थोड़ा शुब्हा था।

आपने अचानक पूछा, ये शुद्ध (Pure) रेशम तो नहीं है? बस मालूम हो गया कि आप इस माद्दी (दुनियावी) ज़रूरत के पूरा करने में भी अपने सिरजनहार को भूले नहीं हैं और आप के अन्दर फ़र्ज़ का एहसास मौजूद है। ये उन बन्धनों का नतीजा है जिसके कारणों से ज़िन्दगी के हर–हर शाखा में भक्ति भाव और ख़ुदा के कहने पर चलने का जज़्बा हमारे अन्दर बाक़ी रहता है और भूलता नहीं है।

कपड़े में जिन–जिन चीज़ों को मना किया गया है वह नीचे दी जा रही हैः–

1. **मैता (मरे जानवर का बना)**– यानि ग़ैर ज़बीहे (जिस हलाल गोश्त जानवर को ज़िब्ह करते वक़्त अल्लाह का नाम न लिया गया हो) के वह अंग जिसमें जानवर जीते रहने में ज़िन्दगी पायी जाती है जैसे–खाल या हड्डी, इसका कोई भी हिस्सा अगर इन्सान के कपड़े में होगा तो नमाज़ सही नहीं होगी।
2. वह जानवर जिसका गोश्त धर्म के क़ानून में हलाल (वैध्य) नहीं है उसके जिस्म के सारे अंग यहाँ तक कि रोंगटे और बाल भी जिनमें ज़िन्दगी नहीं समाती (जो ज़िन्दा नहीं माने जाते) वह भी मना है।

हमें पूरी तरह से इन जानवरों के निजी (और जातीय) गुणों (Characters) के बारे में जानकारी नहीं, इसलिए इस हुक्म की मसलहत का अंदाज़ा नहीं कर सकते। मगर एक तरह के पिछले पैग़म्बरों के समय में कुछ ऐसे लोग जो अपने पापों की वजह से

उन जानवरों के रूप में बदल दिए गए) उनको हराम कहा गया है यानि वह नाफ़रमान लोग जिस जानवर की शक्ल में बदल दिए गए थे, वह 'जानवर' हराम बताए गए हैं। इससे बहुत हद तक उन गुनाहों और बुरे कामों से घिन पैदा होती है, जिसकी वजह से वह लोग इन जानवरों के रूप में बदल दिए गए। इसका ये मतलब नहीं है जैसा कि कुछ आम लोग समझते हैं कि ये जानवर अस्ल में इन्सान थे और वह इस रूप में बदल दिए गए, लेकिन ऐसा नहीं है। इन जानवरों की जातियां पहले से थीं मगर कुछ सम्प्रदायों के बुरे कामों से उनकों इन जानवरों के रूप में बदल दिया गया इसलिए इन जानवरों की सूरतें अज़ाब (प्रकोप) के ज़ाहिर होने की एक निशानी बन गयीं।

उनके रूप में आकर जानवरों के हराम हो जाने से उस अज़ाब की याद ताज़ा होती रहती है और बुरे कर्मों के बुरे फल का अन्दाज़ा होता है। याद रखना चाहिए कि ये बदले गये रूप चरित्र के छुपे हुए चेहरे से उठाया गया परदा है।

इन्सान के सामने का चेहरा एक दिखावे का परदा है जिसमें कभी मानवता का जलवा होता है और कभी हैवानियत/पशुत्व पलता है। खुदा की तरफ़ से अगर ये परदा हटा दिया जाए तो उसके अन्दर की सच्चाई आखों के सामने आ जाए, उस वक़्त मालूम हो कि ये इन्सान था या कोई और।

'रहमतुल्लिल्आलमीन' रसूल स0 के समुदाय को अपने सामने के लगाव की बरकत से इस अज़ाब से छूट (Exemption) मिल गयी है। यहाँ दुनिया में इसकी अस्लियत से परदा नहीं उठाया जाता और इस्लाम का परदा, ढांपने का काम करता है। मगर आख़ेरत में जबकि अस्लियत से पर्दा उठा दिया जाएगा उस वक़्त के लिए कहा गया है–

उस दिन भी इन्सानियत बाक़ी रहे, इन्सान को हश्र के दिन भी इन्सान की सूरत में उठाया जाए तो कामयाबी की निशानी है। इन्सान को कोशिश करना चाहिए कि ऐसे काम करें कि उसकी इन्सायित बची रहे। इन्सान के परदे में वह कहीं जानवर न बन जाए, ये एहसास है जो रूप में बदले हुओं की सूची (List) से इन्सान में पैदा होता है।

3. **ख़ालिस रेशम**– इसका पहनना मर्दो के लिए हराम कहा गया है और उनकी नमाज़ भी इस कपड़े में बातिल (ग़लत) है। औरतों के लिए इसकी इजाज़त है और उनकी नमाज़ भी इस कपड़े में जायज़ है।

4. **खरे सोने के जेवर**– ये भी मर्दो के लिए हराम है लेकिन औरतों को इसकी आम इजाज़त है।

शरीयत को ये मन्जूर नहीं है कि मर्दो में नारित्व (ज़नानापन) पैदा हो जाए। जिस तरह मर्द और औरत को प्रकृति (Nature) ने अलग–अलग पैदा किया है, शरीयत भी इनको अलग–अलग रखना चाहती है। वह चाहती है कि मर्द ये एहसास रखें कि हम मर्द हैं और औरतें ये एहसास रखें कि वह औरत हैं।

औरत की ख़ासियत है नाज़ुक, मुलायम होना इसलिए नाज़ुक और मुलायम कपड़े उसके लिए मुनासिब है, मर्द मेहनत श्रम, मज़दूरी के लिए पैदा किया गया है इसलिए उसके हिसाब से पकड़े होने चाहिए।

बेशक लड़ाई के मौदान में जंग के हित में रेशम के पहनने की भी इजाज़त दी गयी है। मर्द और औरत में फ़र्क को बाक़ी रखने के लिए ही जो कपड़ा ख़ास मर्दो का है वह औरतों के लिए और जो ख़ास औरतों का है वह मर्दो के लिए नाजाएज़ है।

ये हुक्म अलग–अलग देशों की रस्म व रवाज के लेहाज़ से अलग होता है। आपके देश में आपके रवाज का लेहाज़ किया जाएगा जैसे पांयचेदार पायजामा, लहंगा, साड़ी औरत का पहनावा है, और अचकन, टोपी, शेरवानी और अंगरखा, मर्द का पहनावा है' उसका इस्तेमाल औरत के लिए हराम व नाजाएज़ है, हां कॉमन लेबास जैसे क़मीस, कुर्ता घुटन्ना वग़ैरह इसमें कोई हर्ज नहीं इसे दोनों इस्तेमाल कर सकते हैं।

जगह

इसकी ज़रूरत तो अक़्ल से है। इंसान का जिस्म होता है इसलिए बहरहाल एक माहौल की ज़रूरत है जिसमें वह रहे और ये उसकी जगह होगी यह हर हालत में ज़रूरी है। नमाज़ भी इससे अलग नहीं है। इस बारे में शरीयत में कोई ज़रूरी पाबन्दी नहीं लागू की गई है। हां, कुछ जगहें मकरूह हैं, कुछ मुस्तहब, (सुन्नत/वाहनीय) और कुछ दरजे में बराबर हैं। मगर एक बात ऐसी है जिसका लेहाज़ मकान में भी ज़रूरी है और लेबास में भी बल्कि नमाज़ से जुड़ी हर चीज़ में है, यानी वह चीज़ ग़स्बी (हड़प की हुई) न हो। ग़स्बी का मतलब यह है कि उसका मलिक

कोई दूसरा हो और जिसके इस्तेमाल करने में मालिक की तरफ़ से न इजाज़त मिली हो न उसके राज़ी होने का अंदाज़ा हो। जगह और कपड़े बल्कि हर वह चीज़ जो नमाज़ से जुड़ी है, वह ग़स्बी न हो। यहाँ तक कि अगर आप अपने मकान के कोठे पर इस तरह हाथ आगे बढ़ाकर वजू करें कि पानी दूसरे की मिल्कियत की हद में पहुचें तो वजू सही नहीं होगा। ये है इन्सान के हक़ की अहमियत का नतीजा जो खुदा की निगाह में (अल्लाह के हक़ से ज़्यादा) मुआफ़ किए जाने वाला नहीं हैं। (यानि अल्लाह अपना हक़ तो मुआफ़ कर सकता है लेकिन अगर इन्सान का हक़ लिया है तो जब तक वह इन्सान मुआफ़ न कर दे तब तक वह माफ़ किए जाने के क़ाबिल नहीं है)।

नमाज़ कैसे हो?

अब तक सारी शर्ते पूरी हो चुकी हैं, अज़ान व एक़ामत कही जा चुकीं, अब अस्ल नमाज़ की बात है। यूँ तो नमाज़ के वाजिब टुकड़े उगँलियों पर गिने जा सकते हैं मगर उन वाजिब के अदा करने में सुकून, ठहराव और इत्मीनान की ज़रूरत है और फिर उसका एक तरीक़ा और क़ायदा हैं, अगर उनका पूरी तरह से लेहाज़ किया जाए तो नमाज़ में एक ख़ास शान पैदा हो जाती है। मासूम इमामों (अ0) ने कोशिश की है कि उनके मानने वाले उसी ख़ास शान के साथ नमाज़ को पूरा करें। ग़ौर कीजिए हम्माद बिन ईसा की रवायत जो इमाम (अ0) के एक बड़े ऊंचे सहाबी हैं: एक दिन इमाम जाफ़र सादिक़ (अ) ने मुझसे फ़रमाया, " क्यों हम्माद नमाज़ भी पढ़ना आती है? "याद रखिए कि यह हम्माद आले मोहम्मद (स0) के ज्ञान जानने वाले के बीच की तरफ़ हैं, कोई और भला हम्माद से यह सवाल कहाँ कर सकता था? मगर यह इमाम (अ) का सवाल था। हम्माद क्या कहते, अर्ज़ किया " मै हरीज़ की किताब जो नमाज़ के बारे में है उसे हिफ़्ज़ रखता हूँ। हज़रत ने फ़रमाया " अच्छा कोई हर्ज नहीं, खड़े हो, नमाज़ पढ़ो। हम्माद कहते हैं मैं इमाम (अ) के सामने खड़ा हुआ, क़िब्ले के तरफ़ मुँह करके नमाज़ शुरू की और रुकू व सजदे सब किए। हज़रत ने फरमाया" तुम्हें नमाज़ पढ़ना नहीं आती, अल्लाहु अकबर! इतना ही काफ़ी था मगर उसके बाद एक ताज़ियाना लगाया गया। सिर्फ़ हम्माद ही को नहीं बल्कि शिया होने के सारे दावेदारों को, कहते हैं, "तुम मे से किसी एक के लिए यह कितनी बुरी बात है कि साठ या सत्तर बरस की उम्र हो जाए और वह एक नमाज़ भी उसकी हदों और क़ायदों के साथ पूरे तौर पर ठीक से न पढ़े।" हम्माद कहते हैं" मुझे अपने दिल में एक ज़िल्लत सी महसूस हुई यानि मैं खुद अपनी निगाह में तुच्छ सा मालूम होने लगा। मैने अर्ज़ किया " मेरी जान आप पर निछावर हो फिर मुझे नमाज़ सिखाइए। ये सुनकर हज़रत क़िब्ले की तरफ़ मुँह करके सीधे खड़े हुए " अपने दोनों हाथ आपने ज़ानुओं के ऊपर डाल लिए इस तरह कि हाथों की उँगलियाँ मिली हुई थीं, हम्माद को सख़्त चेतावनी हो चुकी थी इसलिए इमाम (अ) के हर अ़मल को बड़े ग़ौर से देख रहे थे और कोशिश की है कि लफ़्ज़ों के ज़रिये से इमाम की पुरी तस्वीर दूसरों के सामने ले आयें, ऊपर बताई गयी हालत नमाज़ में क़याम (सीधे खड़े होना) की हालत है। अभी *"तक्बी–रतुल इहराम"* (नियत के बाद पहली बार अल्लाहु अक्बर कहना) नहीं हुई है सिर्फ़ नमाज़ का इरादा है " अपने दोनों पैरों के बीच की तरफ़ तीन उँगलियों की दूरी रखी है और पैरों की सब उँगलियों को क़िब्ला की तरफ़ कर लिया वह, ज़रा भी इधर उधर नहीं थीं " इस सब पर खुज़ू (अपने को बहुत कम समझना हीन भाव) की एक हालत थी जो ज़ाहिर हो रहा थी "अब आपने *तक्बी–रतुल इहराम (अल्लाहु अक्बर)* कही "फिर सूरह हम्द और *कुल्हुवल्लाह* बहुत साफ़ तरीक़े पर अक्षर अक्षर को ज़ाहिर करके तजवीद (अरबी ज़बान को सही पड़ने का तरीक़ा) के साथ पड़ा " फ़िर ज़रा सा ठहरे, इतना कि जैसे सांस लेते है, इस हालत में कि आप खड़े हुए थे "फिर इसी खड़े होने की हालत में आपने *'अल्लाहु अक्बर'* कहा, ये नहीं कि सूरह के बाद रुकू के लिए झुक गये बल्कि उसी खड़े होने की हालत में तक्बीर कही "फिर आपने रुकू किया और अपनी हथेलियों को अपने घुटनों से भर लिया यानी दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर पूरी तरह से रखा इस तरह कि उँगलियाँ खुली हुई थी "आप ने रुकू में घुटने को पीछे की तरफ़ दबा लिया यहाँ तक कि आम की पीठ बराबर (समतल/Plain) इस पोज़ीशन (Position) में हो गयी कि अगर पानी या तेल की कोई बूंद डाली जाए तो वह अपनी

(बक़िया पेज नं0 11 पर.....................)

"अगर बच्चा हज़म कर सके तो गुलाब वाली सुराही के पानी में दूध मिला कर दे–यदि इस तरह की बातें पूछनीं हों तो हकीम शेर शाह शीराज़ी जिनकी विधावली में बैठक है, से परामर्श कर लिया करें।"

"मैं ने ऐसा किया–धीरे धीरे ईश्वर ने बच्चे को पूर्ण स्वस्थ कर दिया–ईश्वर की दया से आज परमानन्द जी के एक सुपुत्र भी है–जिसका नाम है हरि दयाल अर्थात ईश्वर का दिया हुआ। फिर उन्होंने मेरे चेहरे पर वात्सल्य पूर्ण दृष्टि डाली और दुखित स्वर में कहा–"आप तो रो रहे हैं–आखिर ऐसा क्यों?"

मैं क्या उत्तर देता? भावविहवल होने से मेरी तो–हिचकी बंध गयी। माता जी ने बात जारी रखी।

"सैयद बाबा जी भी जब इस बीमार और महापुरूष का ज़िक्र करते थे तो उनके नेत्र अश्रुपात करने लगते उन्होंने हमारे लिए कितने दुःख सहे वे मर कर भी अमर हैं सैयद बाबा जी कहा करते थे कि मैं उनके (महापुरूष के) चरणों की धूल भी नहीं हूं ईश्वर जाने वह कितने बडे महाऋषि होंगे। उन्हीं के माध्यम से तो मेरे चांद परमानंद को नव जीवन प्राप्त हुआ ।

इस बार मैने उस हिन्दू महिला के चेहरे की ओर देखा–उसके नेत्रों से श्रद्धा और विश्वास के मोती टपक रहे थे।

लाहौर के रहने वालों ने 1946 तक एक हिन्दू परिवार को देखा होगा–जिसके सदस्य मोहर्रम के दसवें दिन सुनहरी मस्जिद के समीप, कभी कश्मीरी बाजार में, कभी डिब्बी बाजार में और कभी किसी और स्थान पर फूलों के हार लिए–हजरत इमाम हुसैन के वफ़ादार घोड़े की पुन्य स्मृति में निकाले जाने वाले जुलजनाह (दुल,दुल) की प्रतीक्षा करते रहते–और पुष्पहार अलम और ताजियों पर चढ़ाते–और किसी छोटे बच्चे के हाथ में कभी सोने और कभी चांदी की एक छोटी सी छतरी होती–जो वह हजरत इमाम हुसैन की सेवा में समर्पित करते–जिनके अद्वितीय बलिदान ने मानवता को नव जीवन प्रदान किया–इस श्रद्धालु समूह में परमानन्द भी होते, हरदयाल भी होते और उनके परिवार के अन्य सदस्य भी–

"इन्सान को बेदार तो हो लेने दो
हर क़ौम पुकारे गी हमारे हुसैन हैं"

(इमामिया मिशन, लखनऊ प्रकाशन क0 सं0 695 फ़रवरी 1976 ई0)/मोहर्रम 1369 हि0।

+++

(पेज नं0 8 का बक़िया.....................)

जगह से हटे नहीं, पीठ के बराबर होने की वजह से उसके साथ आपने अपनी गर्दन को आगे की तरफ़ बढ़ाया और आँखो को बन्द कर लिया " फिर आपने तरतील से ठहर ठहर कर) तीन बार सुब्हा–न रब्बियल् आ'ला व बिहम्दिह कहा। फिर सीधे खड़े हो गये जब इत्मेनान से खड़े हो गये तो कहाः समि'अल्लाहु लिमन् हमिदह् फिर खड़े ही खड़े अपने दोनों हाथ मुंह के पास तक ऊंचे कर के अल्लाहु अक्बर् कहा और फिर सजदा किया और अपने दोनों हाथ घुटने से पहले ज़मीन पर रखे (यह बात हमारे और अहले सुन्नत के बीच अलग अलग है, वे पहले घुटनों को ज़मीन पर टेकते हैं फिर हाथ ज़मीन पर रखते हैं।) सजदे में आपने तीन मर्तबा *"सुब्हा–न रब्बियल् आ'ला व बिहम्दिह"* कहा। आपने सजदे की हालत में अपने जिस्म का कोई अंग दूसरे किसी हिस्से पर नहीं रखा। यह सजदे की वह सही हालत है जिसमें जिस्म के किसी हिस्से का भार दूसरे हिस्से पर नहीं पड़ता। " आपने जिस्म की हड्डियों को ज़मीन पर रख के सजदा किया, माथा और दोनों हाथ और दोनों घुटने और पैरों के दोनों अँगूठे और नाक पहले सातों हिस्से सजदे में वाजिब हैं और नाक का ज़मीन पर रखना सुन्नत है जिसका नाम इदग़ाम है। " फिर आपने सजदे से सर उठाया, जब अच्छी तरह बैठ गए तो कहा *अल्लाहु अक्बर"*। अल्लाहु अक्बर कहने के बाद इस तरह बैठे कि बाएँ ओर ज़ोर दिया और दाहिने पाँव को बाँए पाँव के तलवे पर रखा और *"अस्तग़्फ़िरूल्ला–ह रब्बी व अतूबु इलैह्"* ज़बान से कहा।" फिर बैठे होने की हालत (Position) में तकबीर (अल्लाहु अक्बर) कही और दूसरा सजदा किया और जो पहले सजदे में कहा था वही दूसरे सजदे में भी कहा (यानि *सुब्हा–न रब्बियल आ'ला व बिहम्दिह)*" आपने जिस्म के किसी हिस्से के लिए जिस्म के किसी दूसरे हिस्से का सहारा नहीं लिया, न रुकू में और न सजदे में और आपने हाथों को इस तरह रखा था जैसे उड़ने वाले जानवरों के पंजे होते हैं और अपने पूरे हाथों को कुहनियों तक सजदे में ज़मीन पर नहीं रखा (जैसे सजदए शुक्र में होता है) "इस तरह आपने दो रकअत नमाज़ अदा की फिर फ़रमाया" ऐ हम्माद इस तरह नमाज़ पढ़ा करो और नमाज़ में इधर उधर नहीं देखो और हाथों और उगँलियों को विला वजह हरकत न दो। ये थी वह नमाज़ की हालत जो हम्माद को बताई गई थी।

(जारी.....................................)